



ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 3.4
IJAR 2015; 1(7): 840-843
www.allresearchjournal.com
Received: 24-04-2015
Accepted: 28-05-2015

डॉ. ममता रानी अग्रवाल
सहायक-प्राध्यापक, हिन्दी
विभाग, महत्मा गाँधी कॉलेज
दरभंगा, बिहार, भारत

हिन्दी उपन्यासों में जीवन-मूल्य, धर्म-संस्कृति, मनोविज्ञान, प्रेमयुग-चेतना, नैतिकता, स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध, अस्तित्ववादी चिन्तन विषयों पर केन्द्रित चिन्तन

डॉ. ममता रानी अग्रवाल

सारांश

किस्सागोई और सोदेश्यता के कारक हिन्दी उपन्यासों को स्थिरता देने में बड़े सहायक सिद्ध हुए, परन्तु आदर्श, मर्यादा और सांस्कृतिक विरासत की रक्षा के उद्देश्य से लिखे जाने वाले उपन्यासों की धारा बहुत दूर तक नहीं चली और पश्चिमी विचारक, जैसे कार्ल मार्क्स, फ्रायड, जॉय पॉल सार्त्र, अल्बेयर कामू आदि की सनसनीखेज विचार प्रणालियों से विश्वभर के साहित्य की विभिन्न विधाओं पर स्थायी रूप से पड़ा। अंतर्जगत के अध्ययन में विकसित मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण उपन्यासों में बहिर्गत यथार्थ की जगह अतियथार्थ को रूपायित किया जाने लगा। परम्परागत नैतिक विधान तथा यौन-वर्जनाओं की असरता साबित हो जाने की वजह से अवचेतन मन में दबकर सुलगती हुई कुंठाओं का खुलकर चित्रण किया जाने लगा। यहाँ तक आते-आते हिन्दी उपन्यास की आन्तरिक धारा ही बदल जाती है। यहाँ हिन्दी उपन्यास एक स्तर पर समकालीन जीवन के व्यापक विस्तार को समेटता है, तो दूसरे स्तर पर, पहले से सर्वथा अलग सामाजिक और वैयक्तिक जीवन को गहराई के आयाम में चित्रित करता है, जिसमें जीवन के विविध एवं उसके आस-पास के परिवेश एवं उसके सम्बन्धों को चित्रित करने का प्रयास मिलता है। इस क्रम में थोड़ी भावुक आदर्शवादिता अथवा रोमांटिक दृष्टिकोण के बजाय वैयक्तिक ईमानदारी और निर्मम यथार्थपरकता का आग्रह बढ़ता है। हिन्दी उपन्यास ने आन्तरिकता को पकड़ने के प्रयास में घटनात्मकता, कथा-चरित्रों की उपेक्षा करते हुए संवेदना के मूल रूप को उसकी यथार्थता में अंकित करने का प्रयत्न किया है।

कूट शब्द: चरित्र-निर्माण, पश्चिमी विचारक, सनसनीखेज, विचार, मनोविज्ञान, बहिर्गत यथार्थ, अतियथार्थ, यौन-वर्जनाओं, हिन्दी, उपन्यास, रोमांटिक, यथार्थपरकता

प्रस्तावना

यहाँ से हिन्दी उपन्यास की वह प्रवृत्ति प्रारंभ होती है जिसमें उपन्यास की सम्पूर्ण कथा एक या दो व्यक्तियों का जीवन - विश्लेषण बन जाती है। घटनायें प्रधान नहीं रहती, घटनाओं से बनी जीवन की ग्रंथि और उपन्यासकार द्वारा उसके रेशे- रेशे को खोलने समझने और सुलझाने का प्रयास ही उपन्यास का केन्द्रबिन्दु बन जाता है, जिसके व्यक्तित्व का निर्माण प्रायः आधुनिक जीवन के निवैयक्तिक सम्बन्ध, अनास्था, स्वनिर्णय, पारम्परिक अविश्वास, तात्कालिक मूल्य आदि जैसे तत्वों से बना होता है, जिसमें उसका अपना मनोविज्ञान प्रकारान्तर से उपन्यासकार की मनोवैज्ञानिक अवधारणा सर्वप्रधान हो जाती है।

Corresponding Author:
डॉ. ममता रानी अग्रवाल
सहायक-प्राध्यापक, हिन्दी
विभाग, महत्मा गाँधी कॉलेज
दरभंगा, बिहार, भारत

इस सम्बन्ध में शोधार्थी एक संभावित निष्कर्ष को इस रूप में प्रस्तावित करने का इच्छुक है कि धीरे-धीरे नितान्त वैयक्तिकता के घेरे में सिमठती कथावस्तु की यह प्रवृत्ति संभवतः आत्मकेन्द्रित होने की एक पूर्व प्रक्रिया है। मोटे तौर पर चौथे दशक में नये मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के संघात से यथार्थ का आग्रह और दबाव बढ़ा तथा वैयक्तिक प्रवृत्तियाँ प्रमुख रूप से उभर आयीं। वैयक्तिकता का संस्पर्श लिये इस यथार्थपरक विचारधारा का प्रेमचन्दोत्तर युग में अभूतपूर्व विकास हुआ। जैनेन्द्र-अज्ञेय-इलाचन्द्र जोशी जैसे समर्थ रचनाकारों द्वारा इसके नये आयामों का उद्घाटन होता है। इस युग के लेखकों का झुकाव बाह्य जगत की स्थूल घटनाओं के चित्रण की अपेक्षा व्यक्ति के अंतर्जगत के सूक्ष्म व्यापारों को अंकित करने की ओर अधिक दिखाई पड़ता है। ये उपन्यासकार कथानक को विशेष महत्व न देकर अपने पात्रों के मानस की गहराई में बैठकर इनकी भावनाओं का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करते हैं। पहले-पहल "त्यागपत्र" (1937) में आकर उपन्यास की कथाप्रधानता की प्रवृत्ति से नाता टूटता है। इस उपन्यास में दो भिन्न दुनियाँ का चित्रण है। प्रमोद के संसार के सारे आदर्श, मूल्य, प्रतिमान स्थिर हैं जबकि मृणाल बँधी-बँधायी लीकों पर नहीं चलती। परम्परा और सड़ी-गली रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह करके मृणाल अपने ढंग से जीवन जीने का प्रयास करती है और इसी प्रयास में टूट जाती है, किन्तु वह हार नहीं मानती।

वास्तव में 'त्यागपत्र' में मानव मन की अतल गहराइयों में छिपे वैयक्तिक सत्य को पुरुष सत्तात्मक समाज किस प्रकार नारी पर जघन्य अत्याचार करके उसे इस दुनियाँ से अजनबी बना देता है-- मृणाल इसकी ज्वलंत उदाहरण है। 'कल्याणी' (1940) भी परम्परागत नारीत्व का आदर्श रखने के क्रम में अपमानित होती है और सामाजिक सहानुभूति भी नहीं प्राप्त कर पाती है। 'सुखदा' (1952) पारिवारिक जीवन से बाहर आनेवाली नारी की कहानी है जो गृहस्थी की एकरसता से ऊबकर जब बाहर आती है, तो कुछ उसके साथ घटता है, वह उसके लिये कल्पनातीत है।

शोध-प्रक्रिया

इस शोध में मूलतः आगमन-विधि से निष्कर्ष तक पहुँचने का प्रयास रहेगा। प्रभावमूलक समीक्षा-पद्धति का अनुसरण प्रस्तुत शोधार्थी के लिये उपयोगी होगा।

साहित्य-समीक्षा

'शेखर: एक जीवनी' (1941-45) में वैयक्तिकता का चरम निदर्शन मिलता है। शेखर को पारम्परिक मान्यताओं और आस्थाओं में तनिक विश्वास नहीं है। वह अपने को प्रकृति-पुत्र कहता है। इस उपन्यास में अज्ञेय ने व्यक्ति के माध्यम

से समाज को वैयक्तिक मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में रोमांटिक दृष्टि से देखा है। 'नदी के द्वीप' (1951) स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के विषय में खोखली सामाजिक मान्यताओं और रूढ़ियों के प्रति व्यक्ति-चेतना के विद्रोह को कलात्मकता के साथ उभारता है।

इलाचन्द्र जोशी के 'निर्वासित' (1946) का नायक महीप दो विरोधी व्यक्तिगत जीवन के बीच उलघटा रहता है। उनके उपन्यासों में व्यक्ति के माध्यम से सभ्यता के ऊपरी आवरण के नीचे छिपी विकृतियों का अनावरण है। आधुनिक जीवन के निवैयक्तिक सम्बन्ध, अनास्था, पारस्परिक विश्वास 'जहाज का पंछी' (1955) के नायक के चिन्तन में सशक्तता के साथ उभर कर आये हैं। व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का उफान 'कंकाल' (1929) से परिलक्षित होने लगता है। इसमें ये प्रवृत्तियाँ आदर्शवादी सुधारवादी सामाजिक धारा के तटबन्ध को तोड़कर उमड़ पड़ती हैं। यह उन्मुक्तता उस युग में लीक से हटकर लिखे गये उपन्यासों, यथा 'परख', 'सुनीता' और 'चित्रलेखा' में द्रष्टव्य है। 'सुनीता' में इसका नया तेवर आधुनिकता की चुनौती का नया परिणाम माना गया है। उपन्यास में नारी- सम्बन्धी परम्परागत मान्यताओं पर प्रश्न-चिन्ह लगाया गया है। इस उपन्यास का एक पात्र श्रीकांत विवाहित नारी को प्रेम के लिए मुक्त करना चाहता है। इस प्रकार वह पाश्चात्य ढंग से उन्मुक्त दाम्पत्य जीवन का पक्षपाती है। 'चित्रलेखा' (1934) में लेखक का निष्कर्ष है:-

"मनुष्य न पाप करता है न पुण्य, वह केवल वह करता है, जो उसे करना पड़ता है- फिर पाप - पुण्य कैसा? वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है।"

प्रेमचंदोत्तर काल में यह व्यक्तिवादी धारा अत्यन्त सशक्त होकर हिन्दी उपन्यास की प्रमुख धारा बन जाती है। साठोत्तरी नये उपन्यासकार तो इससे भी आगे बढ़ गये और वे यौन समस्याओं, कुंठाओं तथा ग्रंथियों को केन्द्र में रखकर उसे उपन्यासों में रूपायित करने लगे। साठ के बाद का हिन्दी उपन्यास व्यक्तिबोध, युगबोध, भावबोध और नये संवेदन का उपन्यास है। इसमें यथास्थितिवाद के स्थान पर संघर्ष और विद्रोह का आग्रह परम्परागत मूल्यवादी दृष्टिकोण को स्थान पर अनास्था एवं मूल्यहीनता का स्वर प्रमुख है।

सातवें दशक में यथार्थ के अनेक आयामी चित्रण ने उपन्यास के परम्परित शिल्प और रूप-बंध को छिन्न-भिन्न कर मनुष्य को रूढ़ सामाजिक-सांस्कृतिक परम्पराओं और अंधविश्वासों से हटकर मूल्यों के स्तर पर मानवीय स्वतंत्रता की दृढ़ता से प्रतिष्ठा करता है।

अस्तित्ववाद से प्रभावित व्यक्तिपरक सफल उपन्यासकारों में अज्ञेय' निर्मल वर्मा, मोहन राकेश, लक्ष्मीकान्त वर्मा, उषा प्रियम्बदा, राजकमल चौधरी, शिवप्रसाद सिंह, श्री लाल शुक्ल, श्रीकांत वर्मा, पणि मधुकर, गंगा प्रसाद विमल, आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। सातवें दशक के प्रभावशाली उपन्यास आधुनिक मनुष्य के अकेलेपन, अजनबीपन, निरर्थकताबोध, फालतूपन, ऊब आदि को सशक्त चित्रण करते हैं। मोहन राकेश का 'अंधेरे बन्द कमरे' (1961) एवं 'न आने वाला कल' (1968) तथा गिरिराज किशोर का 'लोग' (1966) एवं 'थात्राएँ' (1971) इसी परम्परा के उपन्यास हैं, जिनमें आधुनिक जीवन की विसंगतियों और विकृतियाँ पूरी भयावहता के साथ चित्रित हुई हैं।

परिवर्तित नैतिक परिदृश्य

ऊपर वर्णित मनोवैज्ञानिक व्यक्तिविश्लेषणपरक उपन्यासों में एक ऐसी स्वच्छन्दता का प्रबल आग्रह दिखता है, जो पारम्परिक अचारशास्त्र को चुनौती तो देता ही है, वर्जनाओं में सुख से जीने का भी उसे धीरज नहीं है, उल्टे उसे तोड़ने में उसे सन्तोष के साथ पुरुषार्थ का भी अनुभव होता है। यह स्थिति केवल यौन - कुंठाओं के साथ नहीं है, अन्य समाज-सृजित वर्जनाओं के साथ भी है। साठोत्तरी उपन्यासकारों ने परम्परा से अलग हटकर सर्वथा नयी दृष्टि से सेक्स-चित्रण किया। महेन्द्र भल्ला के 'एक पति के नोट्स' (1967) का नायक, जिसने सीता के साथ प्रेम-विवाह किया, उससे ऊब जाता है। उसे लगता है, जैसे उसके भीतर के रस का स्रोत सूख गया है। उसे सीता में बदसूरती और विधवापन का अनुभव होता है। अपनी ऊब और एकरसता को खत्म करने के लिए वह अपने पड़ोसी की पत्नी संध्या के साथ फ्लर्ट करता है, पर अंत में पाता है कि उसमें भी कुछ नया नहीं था और कड़ी निरर्थकता उसके मन को घेर लेती है। गंदगी और घिनौनेपन के अलावा उसे कुछ हाथ नहीं लगता। इस प्रकार परम्परागत मूल्यविघटन की प्रक्रिया चलती रहती है।

'शुनाहों का देवता' की एंग्लोइंडियन लड़की पम्मी, जो पाश्चात्य विचारों की प्रतीक है, विवाह से घृणा करती है और यह मानती है कि,

"शादी अपने को दिया जानेवाला सबसे बड़ा धोखा है",

वह विवाह संस्था का विरोध करती है। 'सुखदा' का कम्प्युनिष्ट विचारक लाल विवाह को प्रेम से भिन्न स्वीकार करता है। परन्तु सुखदा इसको उत्तरदायित्व के रूप में ग्रहण करती है। 'डूबते मस्तूल' के आधुनिक वातावरण में पत्नी विवाहिता रंजना विवाह की तुलना कँटीले तारों के बाड़ से करती है जो स्त्री के इर्द-गिर्द लगी होती है। महानगरीय

वातावरण से प्रभावित रत्नासागर, लहरें और मनुष्य में धन के कारण मणिक को पति के रूप में स्वीकार कर लेती है। रत्ना अपनी जाति की परम्परागत मर्यादाओं को त्यागकर तीन-चार पुरुषों के सम्पर्क में आकर सम्बन्धों की स्वच्छन्दता के मूल्य के प्रति आस्था व्यक्त करती है। 'जयबर्धन' की विदेशी युवती लिजा विवाह को प्रतिज्ञा मानती है। "नदी के द्वीप" में रेखा का प्रणय-व्यापार एक चुनौती बनकर प्रस्तुत हुआ है। "मैला आँचल" की कमला विवाह-पूर्व ही मातृत्व-बोझ ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार प्रेम और यौन इन उपन्यासों के कई पात्रों में नूतन रागात्मक उपलब्धि बनकर आते हैं या इनमें मानव-मन की इन यौन-कुंठाओं का चित्रण किया गया है।

इस प्रकार प्रेम और सेक्स में स्वेच्छाचार का प्रश्रय कुछ अधिक ही विस्तार के साथ विकास पाता गया है। सेक्स और सन्तति की एकवाक्यता समाप्त होने के कगार पर हैं। श्लील और अश्लील का विवेक निरर्थक समझा जाने लगा है। दाम्पत्य जीवन सम्बन्धी मान्यतायें शिथिल हो रही हैं। बिना विवाह के भी पुरुष और स्त्री एक साथ जीवन व्यतीत करने के पक्षधर होते जा रहे हैं। पति और प्रेमी दो पृथक-पृथक व्यक्ति हो सकते हैं। विवाहपूर्व और विवाह पश्चात भी इतर यौन सम्बन्धों में अब कोई हिचक अनावश्यक समझी जाने लगी है। यह आवश्यक नहीं है कि जिससे प्रेम हो, उसी से विवाह भी और प्रेम भी। अच्छे पति-पत्नी को एक दूसरे के आचरण के बारे में मौन धारण कर लेना चाहिए। अपने को चुस्त-दुरूस्त दिखने-दिखाने में पूर्व धारणाओं की अस्वीकृति स्वाभाविक बन गयी। चौराहों पर, क्लबों और पार्टियों में चमत्कार-सृजन और आत्म-प्रदर्शन अब निन्दा का विषय नहीं रहा। उन्मुक्त रोमांस दिखाकर चर्चा का विषय बनना आज की महत्वाकांक्षा बनती जा रही है। शिशुओं का जन्म भारस्वरूप समझा जा रहा है। इस प्रकार नैतिकता के नये सन्दर्भों के तीव्र विकास का प्रमाण हिन्दी के व्यक्ति-विश्लेषण परक उपन्यास उपस्थित करते हैं।

वर्तमान समय में "नैतिक मूल्यों की समस्या और भी विकट इसीलिये हो गयी है कि प्राचीन शास्त्रीय, धार्मिक अथवा ईश्वर-संभूत धार्मिकता इस युग में क्रमशः क्षीण होती जा रही है और आज नैतिकता का आधार एक मानव-संभूत नीति में खोजा जा रहा है। जो दायित्व आज तक ईश्वर या धर्म पर था, वह मानव ने स्वयं ओढ़ लिया है।" अज्ञेय' आत्मनेपद, "सुनीता" की सुनीता, पति के प्रति श्रद्धा रखती हुई भी परिस्थितिवश हरिप्रसन्न को अपना शरीर समर्पण करने के लिए तैयार हो जाती है। 'कंकाल' और 'शेखर एक जीवनी' में ऐसा सम्बन्ध बने हैं, जो एक विचित्र नैतिक परिदृश्य उपस्थित करते हैं। पाप-पुण्य की नयी परिभाषायें स्वनिर्मित हो रही हैं अब कोई आचारशास्त्र ऐसे उपन्यासों के

पात्रों को किसी मर्यादा में बाँध नहीं पाते, न ही कोई आचारशास्त्र बनने-बनाने का प्रयास है। सांस्कृतिक और परम्परागत नैतिक मान्यतायें यदि शिथिल होती गयी हैं, तो उसके विरुद्ध कहीं तीव्र आक्रोश होता दिखाई नहीं पड़ता। इस प्रकार परम्परागत मूल्यों का विघटन नयी बात तो नहीं ही है, यह विघटन हिन्दी उपन्यासों में चिन्ता का विषय भी नहीं है। सांस्कृतिक अंतर्विरोध तो प्रबल है, पर उसका कहीं सुखान्त दृश्य उभरता दृष्टिगोचर नहीं होता। आस्थाहीन बौद्धिकता प्रश्न पर प्रश्न करती जा रही है इस भरोसे कि कोई दूसरा चिन्तक इसका उत्तर ढूँढे। मील के पत्थर-ढूँढने वाले यदि अब मीटर के टुकड़ों का महव आँकने को लाचार हैं, तो यह किसी के लिये ध्यान का विषय नहीं बनता। व्यक्ति-विश्लेषणपरक उपन्यास के पात्रों की महत्वकांक्षायें एकान्त की तलाश के लिये अधिक व्याकुल हैं और अब जीवन-दर्शन के नाम पर टुकड़े-टुकड़े अनुभवों का एक गड्ढर है। पारम्परिक नैतिकता की एकान्तता, निरन्तरता और स्थिर अनुशासन-प्रियता के निर्वाह का कोई धीरज नहीं, उल्टे उसे तोड़ना एक आनन्द का विषय ही नहीं, नये पुरुषार्थ का भी विषय इन उपन्यासों में बना है। यह जीते-जागते युग की पहचान है। यह अब कोई असमान स्थिति नहीं है। परिवर्तित नैतिक परिदृश्य निश्चित ही एक समेकित सर्वेक्षण की आवश्यकता उपस्थित करते हैं।

उपसंहार

अतः उपन्यास चिन्तन और तत्सम्बन्धी अबतक के समीक्षा ग्रंथों में उपरोक्त विषय पर चिन्तन-लेख नहीं अपितु मेरे दृष्टि के सामने दृष्टिगोचर प्रतीत हो रहा है। इसीलिये विषय के महत्व को ध्यान में रखकर प्रस्तुत शोध विषय को व्यक्ति- विश्लेषणपरक उपन्यासों की पहचान, उनकी असमानान्तर विशेषतायें तथा इन उपन्यासों में चित्रित नैतिक विघटन की स्वीकृति एवं स्वनिर्मित नैतिक मूल्यों का अघोषित आचारशास्त्र, परिवर्तित नैतिक मूल्य और सांस्कृतिक अंतर्विरोध के बीच विकसित होते कुछ महत्वपूर्ण चरित्रों का जीवन-दर्शन और चरित्रांकन तथा कुछ व्यक्ति- विश्लेषणपरक उपन्यासों में नैतिक स्वीकृति-अस्वीकृति का विवेचन किया गया है।

संदर्भ सूची

1. जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन - डॉ० देवराज उपाध्याय।
2. कहानीकार जैनेन्द्र - अभिज्ञान और उपलब्धि- जगदीश पाण्डेय।
3. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासः मूल्यसंक्रमण- डॉ० हेमेन्द्र कुमार पानेरी।

4. कथासाहित्य के मनोवैज्ञानिक समीक्षा-सिद्धान्त- डॉ० देवराज उपाध्याय।
5. अज्ञेय और उनके उपन्यास- डॉ० गोपाल राय।
6. जैनेन्द्र और उनके उपन्यास- परमानन्द श्रीवास्तव।
7. जैनेन्द्र के उपन्यासों का शिल्प- ओमप्रकाश शर्मा।
8. यशपाल के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण- डॉ० मधु जैन।
9. अज्ञेय का उपन्यास साहित्य- डॉ० दुर्गाशंकर मिश्र।
10. उपन्यासः समीक्षा के नये प्रतिमान-डॉ० दंगल झाल्टे
11. प्रेमचंदोत्तर हिन्दी उपन्यास और यौन विज्ञान- डॉ० कुमार वीरेन्द्र।